Rec
4-97
2666

आ. श्री कैलाससागर सूरि ज्ञानमंदिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा
गांधीनगर, पिन-382009.

तित्थयर

जैन भवन

वर्ष २० : अंक ९ जनवरी १९९७

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र
वर्ष २० : अंक ९
जनवरी १९९७

□

संपादन
राजकुमारी बेगानी
लता बोथरा

□

आजीवन : एक हजार रुपये
वार्षिक शुल्क : पचपन रुपये
प्रस्तुत अंक : पाँच रुपये

□

प्रकाशक
जैन भवन
पी-२५, कलाकार स्ट्रीट,
कलकत्ता-७०००७
दूरभाष : २३८२६५५

□

मुद्रक
अनुप्रिया प्रिन्टर्स
६ ए, बड़ौदा ठाकुर लेन
कलकत्ता-७

सूची

श्रावक-जीवन	२६१
अध्यात्मी फिलसुफ रायचन्द कवि	२६७
राजा सम्प्रति	२७८
पूर्णतल्लगच्छ का संक्षिप्त इतिहास	२८४
संकलन	२९०

जिसने दुःख को समाप्त कर दिया है उसे मोह नहीं है, जिसने मोह को मिटा दिया है उसे तृष्णा नहीं है। जिसने तृष्णा का नाश कर दिया है उसके पास कुछ भी परिग्रह नहीं है, वह अकिंचन है।

NAHAR

Interior Decorator

5/1, Acharya Jagadish Chandra Bose Road

CALCUTTA-700 020

Phone : 247-6874 Resi. : 244-3810

श्रावक जीवन

परम कृपानिधि महान् श्रुतधर आचार्य श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में गृहस्थजीवन का विशेष धर्म बताया है।

विशेष धर्म ग्रहण करने वालों की योग्यता बताते हुए ग्रंथकार ने कहा कि सम्यग्दर्शन के बिना विशेष धर्म जो कि विरतिरूप है, नहीं ग्रहण करना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति में सम्यग्दर्शन है वही विशेष धर्म ग्रहण कर सकता है।

'मेरे में सम्यग्दर्शन है या नहीं'—इसका निर्णय करने के लिए पांच लक्षण बताये गये हैं। यदि ये पांच लक्षण जीवात्मा में दिखायी देते हैं, यानी जीव स्वयं इन पांच बातों को महसूस करता है तो समझना चाहिये कि सम्यग्दर्शन है। पाँच लक्षण ग्रन्थकार महर्षि ने इस प्रकार बताये हैं—

प्रशमसंवेग निर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्ति लक्षणं तत् ॥

१. प्रशम, २. संवेग, ३. निर्वेद, ४. अनुकंपा, ५. आस्तिक्य-ये पाँच लक्षण हैं सम्यग्दर्शन के। अल्प या ज्यादा मात्रा में इन पाँच लक्षणों की अभिव्यक्ति होनी चाहिये। मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय जाने पर ये पाँच गुण स्वतः आत्मा में प्रादुर्भूत होते हैं। सम्यग्दर्शन के साथ ये पाँच जुड़े हुए हैं। अभिव्यक्ति कम-ज्यादा हो सकती है। ये गुण क्रियात्मक नहीं हैं, भावात्मक हैं। इसलिए दूसरों को नहीं भी दिख सकते हैं। सूक्ष्म अवलोकन से ही मालूम हो सकता है।

धर्म के विषय में 'सम्यग्दर्शन' की बात मूलभूत बात है। धर्म का मूल है सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन और समकित दोनों एक ही अर्थ के द्योतक शब्द हैं।

सम्यग्दर्शन का पहला लक्षण है प्रशमभाव :

जब सम्यग्दर्शन गुण आत्मा में प्रगट होता है, अनन्तानुबंधी कषाय नहीं रहते हैं उदय में। तीव्र कषाय की परिणति दूर होते ही आत्मा में कुछ शान्ति आती है। कषाय घटने पर प्रशमभाव बढ़ता है। कषाय बढ़ने पर अशान्ति-संक्लेश बढ़ता है।

अलबत्ता, सम्यग्दर्शन के साथ अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन कषाय तो रहते ही हैं। इन कषायों का उदय होता है। इन कषायों की वजह

से अशान्ति, संक्लेश—वगैरह रहेगा, परन्तु तीव्रता नहीं रहेगी। क्रोध, मान, माया और लोभ रहेंगे अवश्य, परन्तु तीव्रतर···तीव्रतम नहीं होंगे।

समकितदृष्टि मनुष्य दिमाग का संतुलन बनाये रखता है। समयानुसार और भाग्यानुसार परिस्थितियाँ अनुकूल भी होती हैं और प्रतिकूल भी होती हैं। इस भिन्नता के बीच अपना दिमागी संतुलन बनाये रखता है समकितदृष्टि मनुष्य। सुख और दुःख के आवेगों को वह इतने नहीं बढ़ने देता है कि जिससे हड़बड़ी पैदा हो जाय। दिमाग का संतुलन बिगड़ जाय।

मगधसम्राट श्रेणिक

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अनन्य भक्त मगधसम्राट श्रेणिक समकितदृष्टि जीव थे। उनको क्षायिक सम्यग्दर्शन था। यानी उनकी आत्मसत्ता में से मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय सदा के लिये चले गये थे। सर्वत्र उनके सम्यग्दर्शन की प्रशंसा हो रही थी।

सम्राट श्रेणिक को उत्तर अवस्था में अकल्पित भयानक दुःख आया। उनके ही पुत्र कोणिक ने राज्यसत्ता हस्तगत कर ली और पिता को कारावास में बंद कर दिया। आपने शायद मगध साम्राज्य का इतिहास पढ़ा होगा। बहुत ही रोमांचक और दर्दनाक इतिहास है। श्रेणिक को कोणिक के प्रति अगाध प्यार था! कोणिक का जन्म हुआ था तभी से सम्राट को उसके प्रति अपार स्नेह था। हालांकि कोणिक की माता रानी चेलणा को पुत्र के प्रति प्यार नहीं था। चूंकि जब कोणिक गर्भस्थ था, तभी चेलणा को संकेत मिल गया था कि "पुत्र पिता का घातक बनेगा!" इसलिये जन्म होते ही चेलणा ने दासी के द्वारा पुत्र को नगर के बाहर कचरे में डलवा दिया था। राणी चेलणा का राजा श्रेणिक के पति अगाध प्यार था। वह ऐसा पुत्र नहीं चाहती थी कि जो पिता का घातक बननेवाला हो।

कर्मों की विचित्रता देखिये! जो पुत्र पिता का घातक होनेवाला है···पिता के प्रति घोर घृणा करनेवाला है, पिता को क्रूरता से दुःख देनेवाला है, उस के प्रति पिता को राग है! मोह है! ममता है! इस से यह फलित होता है कि, जीवात्मा जिस के प्रति राग करता है, मोह करता है, वह जीव उस जीवात्मा के प्रति राग करे, मोह करे—ऐसा नियम नहीं है। राग कर सकता है अथवा द्वेष भी कर सकता है। मोह कर सकता है अथवा नफरत भी। श्रेणिक को पुत्र कोणिक के प्रति राग था, परन्तु कोणिक को श्रेणिक के प्रति द्वेष था, नफरत थी। हाँ, श्रेणिक जानते थे, समझते थे कि यह रागदशा अच्छी नहीं है···यह पुत्रमोह अच्छा नहीं है;' फिर भी वे राग करते रहे।

कोणिक के मन में राज्य की लालसा, राजा बनने की लालसा प्रबल होती चली। उस ने राज्य के कुछ मंत्रियों को व सेनापति को अपने पक्ष में ले कर, विद्रोह कर दिया। राजा श्रेणिक को कारावास में डाल दिया और कोणिक राजा बन गया। पिता को कारावास में डालने मात्र से पुत्र को संतोष नहीं हुआ, रोजाना वह पिता को चाबुक से मारता है। उस समय श्रेणिक प्रशमभाव में रहते हैं! उन की आत्मा में सम्यग्दर्शन का रत्नदीपक जगमगा रहा था न? पुत्र के हाथों मार खाते समय वे कैसा चिंतन करते होंगे कि जिस से उन के मन में कोणिक के प्रति रोष नहीं आया, क्रोध नहीं आया। हालांकि शास्त्र में ऐसा कोई चिंतन पढ़ने में नहीं आता है, परन्तु ऐसा ही कोई चिंतन किया होगा — "हे जीव संसार के सारे संबंध मिथ्या हैं। तू भूल जा कि 'यह मेरा पुत्र है'। तू यह अपेक्षा भी न रख कि "मैंने इस को कितना सारा प्रेम दिया" और वह मेरे साथ इतना शत्रुतापूर्ण व्यवहार करता है? इस को थोड़ा तो सोचना चाहिए।" तू दूसरों से सहानुभूति की अपेक्षा मत रख। तू सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव को धारण कर। यह सोच कि "इस विश्व में मेरा कोई शत्रु नहीं है··· सभी जीव मेरे मित्र हैं। दुःख देनेवाले के प्रति भी द्वेष नहीं करना है। वास्तव में हे जीव! तू ही मेरा दोस्त है और तू ही तेरा दुश्मन है।

यह कोणिक मुझे नहीं मार रहा है, मेरे शरीर को मार रहा है। मारने दो शरीर को। मैं शरीर नहीं हूं। शरीर नाशवंत है, मैं शाश्वत् हूं। मुझे कोई मार नहीं सकता है।"

प्रश्न : घोर दुःख में क्या ऐसा तत्त्वचिंतन हो सकता है?

महाराजश्री : हो सकता है। सम्यग्दर्शन हो तो हो सकता है। मात्र नाम का सम्यग्दर्शन नहीं, वास्तव में सम्यग्दर्शन-गुण आत्मा में पैदा हुआ हो तो ऐसा चिंतन हो सकता है। समकितदृष्टि जीव को 'भेदज्ञान' हो जाता है, आत्मा और शरीर की भिन्नता का ज्ञान हो जाता है, तब ऐसा चिंतन सहजता से हो जाता है।

सम्यग्दर्शन से भेदज्ञान :

आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होने पर जड़ और चेतना का भेद समझा जाता है। 'शरीर जड़ है, आत्मा चेतन है,' यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस से शरीर का ममत्व टूट जाता है। शरीर का ममत्व टूट जाने से शरीर के कष्ट सहने सरल बन जाते हैं। और जब कष्ट सरलता से सहे जाते हैं तब तत्वचिंतन करना आसान बन जाता है। दुःख में भी प्रशमभाव···उपशमभाव बना रहता है समकित दृष्टि जीव को। कोणिक

श्रेणिक को हंटर से मारता है…फिर भी श्रेणिक उपशमभाव में रहते हैं। यह प्रभाव था भेदज्ञान का।

फिर भी, मृत्यु के समय श्रेणिक को प्रशमभाव नहीं रहा। और ध्यान आ गया और मार कर वे नरक में चले गये !

प्रश्न : ऐसा क्यों हुआ ?

महाराजश्री : चूँकि उन्होंने नरकगति का आयुष्यकर्म बाँध लिया था। जीव ने जिस गति का आयुष्य कर्म बाँधा होता है, उस गति के अनुसार मृत्यु के समय जीव का 'ध्यान' बनता है। नरकगति का आयुष्यकर्म बांधा है तो मरते समय रौद्रध्यान ही आयेगा। और रौद्रध्यान में जो आयुष्यकर्म बंधता है वो नरकगति का ही बंधता है। श्रेणिक ने सम्यग्दर्शन पाने से पूर्व नरकगति का आयुष्य बांध लिया था। आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रगट हो, उस समय यदि आयुष्यकर्म बंधता है तो देवगति का ही बंधाता है। इस दृष्टि से भी सम्यग्दर्शन का महत्व समझना चाहिए।

सम्यग्दर्शन से संवेगभाव जगता है :

एक बात अच्छी तरह समझ लेना कि सम्यग्दर्शन आत्मा का अपना गुण है। वह गुण प्रकट होने पर कुछ गुण स्वतः प्रकट हो जाते हैं। 'संवेग' वैसा स्वतः प्रगट होने वाला विशिष्ट गुण है। निर्वेद भी वैसा गुण है और 'अनुकंपा' भी वैसा ही गुण है।

'संवेग' यानी मोक्ष की चाह मोक्ष की चाह यानी आत्मा के विशुद्ध स्वरूप की चाह। यह चाह तभी पैदा होती है जब आत्मा और मोक्ष का स्वरूप ज्ञात हो। ज्यों ज्यों आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को समझते जायं त्यों-त्यों वह स्वरूप पाने की चाह बढ़ती जाय। शुद्ध आत्मा का स्वरूप बहुत प्रिय लगता है समकित दृष्टि जीव को। कर्मों का कोई प्रभाव नहीं, कर्मों की कोई विडंबणा नहीं…मात्र आत्मस्वरूप में ही रमणता ! समकित दृष्टि जीव वैसी रमणता करने के लिये लालायित बनता है। हालांकि यह बात अंतःकरण की है, भीतर की है। उसका बाह्यजीवन विषय-कषाय और अनेक पापों से भरा हुआ हो सकता है। उसके अन्तःकरण की गहराई में 'संवेग' की तरंगें उठती रहती हैं। यानी समकितदृष्टि जीव का बाह्य रूप और भीतरी रूप अलग-अलग होता है। उसका मन मोक्ष में होता है, तन संसार में होता है। उसके विचार और व्यवहार में वहुत अंतर होता है। यही जीवन का कड़ा संघर्ष होता है। वह अपने विचारों को व्यवहार में कार्यान्वित नहीं कर पाता है। उस की यह एक प्रकार की विवशता होती है। यह विवशता उस को ज्यादा विरक्त बनाती रहती है।

समकितदृष्टि वैरागी होता है :

हाँ, समकितदृष्टि जीव, भले बाहर से रंगरागी दिखता हो, विषय-भोगी दिखता हो परन्तु वह भीतर से विषयविरागी होता है। विषय सुखों के प्रति वह हेय दृष्टि से देखता है और सोचता है। हालांकि वैराग्य तो, सम्यग्दर्शन-गुण आत्मा में प्रकट होने से पूर्व भी होता ही है। जिस आत्मा में सहज वैराग्य होता है वही आत्मा आध्यात्मिक विकास कर सकती है और सम्यग्दर्शन की विशिष्ट भूमिका प्राप्त कर सकती है। वैराग्य के बिना सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है? संसार के वैषयिक सुख हेय न लगे और मोक्ष के सुख उपादेय न लगे.... वहाँ तक सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है? सम्यग्दर्शन के उज्ज्वल प्रकाश में आत्मा समग्र संसार को दुःखरूप और मोक्ष को सुखरूप देखती है।

दुःखरूप संसार के प्रति नहीं रहता है राग। नहीं रहती है आसक्ति, यानी समकितदृष्टि जीव के विचारों में विरक्ति होती है। बाह्य जीवन-व्यवहार में रंग-राग और भोगोपभोग हो सकते हैं। विरागी जीव अपने राग-द्वेष और मोह को देखता रहता है। और 'मेरे राग-द्वेष मोह अच्छे नहीं हैं, हेय हैं' ऐसा समझता रहता है। यही उसका वैराग्य है।

भगवान् ऋषभदेव के पुत्र भरत, चक्रवर्ती राजा होते हुए भी वैरागी थे। विपुल पुण्यकर्म के उदय से भोगोपभोग की कोई सीमा नहीं थी, फिर भी वे भीतर से अलिप्त थे। वे आत्मा के विशुद्ध स्वरूप के चाहक थे। प्रतिदिन रात्रि के एकान्त समय में वे आत्म-चिंतन में रमणता करते थे। थोड़े समय के लिए वे इस बाह्य भौतिक दुनिया से दूर.. सुदूर आध्यात्मिक दुनिया में चले जाते और वहाँ अनुपम आनन्द का अनुभव करते। उनका वैराग्य उनको सदैव आत्मभाव में जाग्रत रखता था। इसी वैराग्य ने उन को अहिंसा-भवन में वीतराग बना दिये।

समकित दृष्टि में अत्यंत दया होती है

जिस प्रकार समकितदृष्टि जीवन में प्रशम, संवेग और निर्वेद होता है, वैसे अत्यंत दया भी होती है। दुःखी जीवों के प्रति उसका हृदय अनुकंपा से भरा हुआ रहता है।

हालांकि यह गुण-अनुकंपा तो सम्यग्दर्शन-गुण प्रगट होने से पूर्व, जब जीव 'चरम पुद्गलपरावर्तकाल' में आता है, तभी प्रगट हो जाता है। यानी जिस जीव का संसार परिभ्रमण का काल मात्र एक पुद्गलपरावत शेष रहता है, एक पुद्गल-परावर्त काल के भीतर-भीतर जो जीव मुक्ति पानेवाला होता है, उस जीव में अत्यंत दया-अनुकंपा पैदा होती है।

प्रश्न : पुद्‌गल-परावर्त काल किस को कहते हैं ?

महाराजश्री : यह अध्ययन का विषय है। 'काल' एक विशाल-विस्तृत विषय है अध्ययन का। एक-दो घंटे में यह विषय समझाया नहीं जा सकता है। 'काल-लोकप्रकाश' नाम के ग्रन्थ का अध्ययन करना होगा 'पुद्‌गल-परावर्त' को समझने के लिए।

परन्तु अंतिम पुद्‌गल-परावर्त' यानी एक निश्चित समय-मर्यादा होती है मुक्ति में जाने की। जब इस समय-मर्यादा में जीव आ जाता है तब उस में अत्यंत दया का गुण आविर्भूत होता है। ज्यों-ज्यों जीव मुक्ति के निकट आता जाता है त्यों-त्यों दया की भावना विकसित होती जाती है।

हालांकि गृहस्थ मनुष्य की दया, निरपराधी जीवों तक सीमित होती है। व्रतधारी श्रावक का प्रथम व्रत भी—'मैं निरपराधी त्रस जीवों को जानबूझ कर नहीं मारुंगा' ऐसा होता है, फिर भी समकितदृष्टि जीव अपराधी जीवों के प्रति भी दयालु होता है, ऐसा है, ऐसा ज्ञानी पुरुषों ने कहा है। अपने प्रति अपराध करने वालों के प्रति भी वे अशुभ-अकुशल नहीं सोचते हैं ! अपराधी के अपराधों को माफ कर देते हैं।

दुःखी के दुखों को दूर करने की उन में तीव्र इच्छा होती है। चूंकि वे ही दूसरों के दुखों से दुःखी होते हैं। दूसरे जीवों के दुःख दूर होने से वे समझते हैं कि उनके ही दुःख दूर हो गये हैं। दूसरे जीवों के दुःख दूर कर वह सुख मनाते हैं। (क्रमशः)

सौजन्य से :

BOYD SMITHS PVT. LTD.

B-3/5, GILLANDAR HOUSE

8, Netaji Subhas Road,

Calcutta-700 001

Phone Office : 220-8105/2139

Resi. : 244-0629/0319

अध्यात्मी फिलसुफ रायचन्द् कवि

अनुवाद—**भँवरलाल नाहटा**

हे प्रभु ! हे प्रभु सुं कहुं, दीनानाथ दयाल ;
हुं तो दोष अनंतनो, भाजन छुं करुणाल !

× × ×

अधमाधव अधिको पतित, सकल जगत मां हुंय ;
ए निश्चय आयां बिना, साधन करशे शुंय ?

× × ×

जहाँ राग अने वली द्वेष, तहाँ सर्वदा मानो क्लेश ;
उदासीनता नो ज्यां वास, सकल दुःख नो छे त्यां नाश ।
सर्वकालनुं छे त्यां ज्ञान, देह छतां त्यां छे निर्वाण ;
भव छेवट नीछे ए दशा, राम धाम आवी ने वस्या ।

× × ×

जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनन्त ;
समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्‌गुरु भगवंत ।

× × ×

सुख धाम अनंत सुसंत अहिं, दिन रात्र रहे तद् ध्यान महिं ।
प्रशान्ति अनंत सुधामय जे, प्रणमुं पदते वरते जय ते ।

—श्रीमद् राजचंद्र

काठियावाड़ के मोरबी राज्य के ववाणिआ गाँव में दशा श्री माली वणिक कुल में सं० १९२४ की कार्तिक सुदी १५ रविवार के दिन जन्म हुआ । सात वर्ष पर्यन्त बाल्यकाल के खेलकूद में बिताये । इस निरपराधी दशा के बाद सात से ग्यारह वर्ष तक का काल शिक्षा प्राप्त करने का । वह समय प्रसिद्धि का हेतु न होने से स्मृति निरपराधी थी । वैसी स्मृति होने से एक बार ही पाठ का अवलोकन करना पड़ता था । वह स्मृति इतनी तेज थी कि वैसी स्मृति इस काल इस क्षेत्र में अत्यल्प मनुष्यों में होगी । आठवें वर्ष में तो कविता कर दी थी । मेरे पितामह कृष्ण की भक्ति करते थे, उनसे उस उम्र

में कृष्ण कीर्त्तन के पद मैंने सुने थे, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न अवतारों से संबंधित चमत्कार भी सुने थे जिससे भक्ति के साथ उन अवतारों में प्रतिभाव हो गया और मैंने राम दासजी नाम के साधु से बाललीला में कण्ठी बधाई थी। प्रवीण सागर ग्रंथ भी तब मैंने पढ़ा था। गुजराती भाषा की वाचन माला में जगत्कर्ता सम्बन्धी कितना ही किया हुआ बोध मुझे दृढ़ हो गया था जिससे जैन लोगों के प्रति मेरी बहुत जुगुप्सा थी। बनाये बिना कोई भी पदार्थ नहीं बनता अतः जैन लोग मूर्ख हैं, उन्हें ज्ञान नहीं है। उसी प्रकार प्रतिमा के अश्रद्धालु लोगों की क्रिया मेरे देखने में आई थी, इससे वे क्रियाएँ मलिन लगने से मैं भय खाता था अर्थात् वे मुझे प्रिय नहीं थी। जन्मभूमि में जितने वणिक लोग रहते हैं उन सबकी कुल श्रद्धा भिन्न-भिन्न होने पर भी कुछ प्रतिमा के प्रति अश्रद्धालुओं जैसे होने से मुझे भी उन्हीं लोगों का साथ था किन्तु धीरे-धीरे मुझे उनके प्रतिक्रमण आदि पुस्तकें पढ़ने को मिली। उनमें अत्यन्त विनय पूर्वक सर्व जगत के जीवों से मैत्री भाव मिलने से मेरी उनके प्रति प्रीति हो गई और पूर्व मान्यता भी रही। धीरे-धीरे यह प्रसंग बढ़ा फिर भी स्वच्छ रहने आदि के आचार-विचार मुझे वैष्णवों के प्रिय थे और जगत् कर्त्ता की श्रद्धा थी। इतने में ही कंठी टूट गई, मैंने फिर से बांधी नहीं। उस समय मुझे बांधने न बांधने के कारण पर कुछ भी शोध जिज्ञासा न थी यह मेरे तेरह वर्ष की चर्चा हैं। फिर मैं अपने पिताजी की दुकान में बैठता था। दुकान में नानाप्रकार की लीला लहर थी, अनेक पुस्तकें पढ़ी। राम इत्यादि के चरित्री पर कविताएँ रची थी, संसारी तृष्णाएँ की फिर भी मैंने किसी को न्यूनाधिकभाव नहीं कहा ना ही मैंने तोल में कम बेश दिया यह मुझे अच्छी तरह स्मरण है। (श्रीमद् राजचंद्र लेखांक ६३ द्वितीयावृत्ति ६४ अंतिम आवृत्ति)

१४-१५ वर्षायु में अष्ट अवधान, फिर सोलह बावन शेष में सौ अवधान १९ वर्ष की उम्र में बम्बई में किये। (अतः पूर्व ही शीघ्र 'साक्षात् सरस्वती' नामक ३८ पृष्ठ की पुस्तक प्रकाशित हुई जिससे अवधानों को प्रसिद्धि का कारण का स्पष्ट आभास मिलता है) इन शतावधानों को देखकर स्व० मलधारी जैसे विद्वान सुधारक नेताओंने उन्हें अद्भुत बुद्धि और स्मरण शक्तिशाली (Prodigy of intellect and Memory) महान् सुकवि ने १६ वर्ष ५ मास की उम्र में तीन दिन में (श्री रा० पृ० ७१४) जैन दर्शन में प्राथमिक चंचु प्रवेश कराने वाले शास्त्र-पाठों की वाचनमाला-वीतराग मार्ग प्रवेशिका स्वरूप मोक्षमाला की रचना की थी। उसमें "जैनमार्ग में यथार्थ" समझाने को प्रयत्न किया है। उसमें जनोक्त मार्ग से कुछ भी न्यूनाधिक नहीं कहा। वीतरागमार्ग पर बाल

वृद्ध सभी की रुचि हो, उसका स्वरूप समझ में आवे, हृदय में बीजारोपण हो, इसलिए बाला व बोध योजना की गई है। उस शैली बोध को अनुसरण करने का उदाहरण प्रस्तुत किया है (श्री०स०पृ० ७१५) 'इसके प्रकाशन विलम्बगत ग्राहकों की आकुलता मिटाने के लिए भावना बोध रचकर ग्राहकों को उपाहृत किया है १७वें वर्ष में। सं० १९५२ में नड़ियाद में पद्यबद्ध आत्म सिद्धि शास्त्र[१] नामक कृति की रचना की। इसे सब भिन्न-भिन्न प्रश्नकर्त्ताओं-जिज्ञासुओं को लिखे गये उपयोगी पत्रांक 'श्रीमद् राजचंद्र' नामक ग्रन्थ में उनके भाई मनसुखलाल[२] ने संगृहीत कर प्रकाशित कराये हैं। उनमें अनुभव प्रेरणा, उपयोग, राजयोग आदि से उद्भूत उद्‌गार ज्ञात होते हैं। देहोत्सर्ग मात्र ३३ वर्षायु में राजकोट में (सं० १९५७ चैत्र वदि ५ गुजराती) के दिन हुआ था।

स्वयं कवि रूप में प्रसिद्ध हुए किन्तु वास्तव में कवि नहीं, दार्शनिक अधिक थे। उन्होंने कहा है कि "कविता कवितार्थ आराध्य नहीं, संसार हेतु आराध्य नहीं। भगवद् भजनार्थ-आत्म कल्याणार्थ उसका प्रयोजन हो

---

१. इसका अंग्रेजी भाषान्तर महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका से करके स्व० मनसुखलाल खजी को भेजा था किन्तु उपेक्षा/बेदरकारी से खो गया। इन्दौर हाइकोर्ट के न्यायाधीश राय जगमंदिरलाल जैनी बैरिस्टर ने इसका अंग्रेजी भाषान्तर किया जो प्रस्ताविनी सहित The Self Realisation नाम से सन् १९२३ में प्रकाशित है।

२. मनसुखलाल सं० १९८० में स्वर्गस्थ हुए तब गांधीजी ने लिखा कि भाई मनसुखलाल को मैं बचपन से ही पहचानता था और तभी से उनकी चंचल बुद्धि से भी मैं परिचित हो गया था। भाई मनसुखलाल अत्यन्त उत्साही था, उसने अनेक प्रवृत्तियों में हाथ डाला था। किन्तु मेरी ऐसी मान्यता है कि श्रीमद्‌राजचंद्र भाई के लेखों, रचनाओं को संग्रह करने और इस जल्दबाजी के युग में जल्दबाज व्यक्तियों को रुचिकर हो वैसे उनके वचनों का संकलन-ग्रथित करके और प्रकाशित करने का उद्यम करने के सम्बन्ध में उसका स्मरण चिरकाल तक रहेगा"। अगस्त १९०५ में 'सनातन जैन' नामक मासिक निकालकर चार वर्ष चलाया। उसमें स्वतंत्र और निर्भीक लेख लिखते। इसमें उनका यह ध्येय था कि जैन लोग मत-मतान्तर प्रत्येक भेद दूर करके एकता पूर्वक सनातन जैन आम्न्याय से व्यवहार करने की आवश्यकता सिद्ध करें। सन् १९०७ के मार्च महीने से मैं (देसाईजी) उनके साथ उपसंपादकत्व में जुड़ा था।

तो जीव को उस गुण की क्षयोपशमता का सुफल है। जिस विद्या से उपशम गुण प्रगट नहीं हुआ, विवेक नहीं आया या समाधि नहीं हुई तो उस विद्या के प्रति उत्तम जीव को आग्रह रखना उचित नहीं।" (पत्रांक ३२६) काव्य साहित्य या संगीत आदिकला यदि आत्मार्थ हेतु न हो तो कल्पित है। कल्पित अर्थात निरर्थक, वह सार्थक नहीं, जीव की कल्पना मात्र यदि भक्ति प्रयोजन रूप या आत्मार्थ हेतु न हो तो सब कल्पित ही है (पृ० ७२५ पत्र ८०५) सच्चा ज्ञान ग्रन्थों में, भाषा में या कवि-चातुरी में नहीं किन्तु ज्ञानियों-आत्माओं में है—

नहिं ग्रन्थ मांहि ज्ञान भाख्युं ज्ञान नहिं कवि-चातुरी
नहिं मंत्रतंत्रों ज्ञान दाख्या ज्ञान भाषा ठरी
नहिं अन्यस्थाने ज्ञान भाख्युं ज्ञान ज्ञानी माँ कलो
जिनवर कहे छे ज्ञान तेने सर्व भव्यो सांभलो।

जैन धर्म में पड़े हुए मतमतांतरों से रहित ग्रन्थ रचना करने का विचार किया। ऐसे सात ग्रंथ रचने का विचार था। लालित्ययुक्त प्रेरणादायक उपदेश तरंगों से छलकती मोक्षमाला की रचना की। तदुपरांत निमिराज नामक एक संस्कृत महाकाव्य के नियमानुसार शान्तरस प्रधान्य नवरसात्मक पांच हजार श्लोक वाले ग्रन्थ की छः दिन में रचना की थी जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्वर्ग सम्बन्धी उपदेश करके फलस्वरूप मोक्षमार्ग रख दिया है। इसमें कवित्व शक्ति के लालित्य का भान होता है। एक सार्वजनिक साहित्य का एक हजार श्लोक परिमित ग्रन्थ की एक दिन में रचना की (साक्षात् सरस्वती नुं चोपानियुं)ये दोनों ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं।

जैन धर्म का उद्धार करने के सम्बन्ध में लघुवय से ही जिज्ञासा थी। (देखें हाथ नोंध १४ और १५ पत्रांक ४६४। द्वितीयावृत्ति और वह भी सर्व संग परित्याग कर दूसरी आवृत्ति पृ० ६२२ में) किन्तु वैसा उदयकाल नहीं आया। उन्होंने सत्संग, गुरुज्ञानी के परिचय पर बहुत जोर दिया है। अपनी आत्मदशा के लिए लिखा है कि "दस वर्ष धारा उन्नासी सं० १९४१ में अपूर्व भाव प्रगटे, सं० १९४२ में सम्यक्त्व प्राप्त हुआ, सत्यधर्म का उद्धार करना निर्धारित किया आदि। उन्हें लगा कि वर्तमान में जैनदर्शन इतना अव्यवस्थित है तथा इसमें विपरीत स्थिति देखी जाती है, जैन मार्ग में प्रजा भी थोड़ी रही है और सैकड़ो भेद पड़ गये हैं। इतना ही नहीं मूलमार्ग (पृ० ५५१) की प्रमुख बात भी उनके कानों में नहीं पड़ती। सर्व संग परित्याग होने से उस कार्य की प्रवृत्ति सहज स्वभाव से उदय में आवे तो करना ऐसी मात्र कल्पना है (पृ० ४८९) ऐसा उदय आया नहीं और ऐसी मात्र कल्पना, वह कल्पना मात्र रही।

महात्मा मोहनदास गांधी पर राजचन्द्र का प्रभाव पड़ा और उससे जैन धर्म का अच्छा और प्रभावशाली असर उनकी अन्तरात्मा पर पड़ा। अहिंसा और सत्य की बारीकी से छाप श्रीमद्‌जी के कारण पड़ने से गांधीजी ने जो वक्तव्य दिया है वह यहाँ प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा।

सन् १८९७ जुलाई में विलायत से लौट कर जब वे मुंबई पहुंचे उसी दिन गांधीजी का राजचन्द्र भाई से परिचय हुआ। अपनी आत्मकथा के प्रथम भाग में लिखते हैं कि—

एक परिचय लिखे बिना नहीं रहूंगा—वह है कविरायचन्द अथवा राजचन्द्र का। उनकी उम्र तो उस समय २५ वर्ष से अधिक नहीं थी, फिर भी वे चरित्रवान और ज्ञानी थे, यह तो मैंने प्रथम मिलन में ही देखा। वे शतावधनी माने जाते थे, शतावधान का नमूना देखने के लिए मुझे डा० मेहता ने सूचित किया। मैंने अपने भाषा ज्ञान का खजाना खाली किया तो कवि ने मेरे कथित शब्दों को जिस नियम क्रम से कहा था उसी नियम से कहकर सुनाया ! मैं प्रसन्न हो गया। चकित हुआ और कवि की स्मरण शक्ति के विषय में मेरा उच्च अभिप्राय बन गया—(रायचन्द भाई ना संस्मरणो) इस शक्ति की मुझे ईर्षा हुई पर मैं उस पर मुग्ध नहीं हुआ। मैं जिस बात से मुग्ध हुआ उसका परिचय तो मुझे बाद में मिला। यह था उनका प्रखर प्रचुर शास्त्रज्ञान और शुद्ध चारित्र एवं उनकी आत्मदर्शन करने की प्रखर तमन्ना। वे आत्मदर्शन के लिए ही अपना जीवन व्यतीत करते थे, यह मैंने बाद में देखा।

हसतां रमता प्रगट हरि देखुं रे, मारुं जीव्युं सफल तन लेखुं रे।
मुक्तानन्द नो नाथ बिहारी रे, ओघा ! जीवन दोरी अमारी रे॥

मुक्तानन्द के ये वचन न केवल उनकी वाणी में ही थे किन्तु उनके हृदय में ही अंकित थे। स्मरण शक्ति बहुतों की तीव्र होती है जिससे मुग्ध होना आवश्यक नहीं, शास्त्रज्ञान भी बहुतों के देखा जाता है किन्तु वह यदि संस्कार सम्पन्न न हो तो उससे फूटी कौड़ी भी नहीं मिलती। अच्छे संस्कार हों तो वहीं स्मरण शक्ति और शास्त्र ज्ञान का विलाप सुशोभित होता है और जगत सुशोभन होता है, कवि श्रीमद्‌राजचन्द्र संस्कारी और ज्ञानी थे (संस्मरण जैसा सं० ३,१ पृ० ५१)।

स्वयं हजारों का व्यापार चलाते, हीरा मोती की परीक्षा करते, व्यापारिक ग्रन्थियाँ सुलझाते किन्तु ये बातें उनके विषय की नहीं थी। उनका विषय उनका पुरुषार्थ तो आत्मा की पहचान-हरिदर्शन था। उनकी दुकान में अन्य वस्तु हो या न हो किन्तु कोई न कोई धार्मिक पुस्तक और नित्य डायरी तो होती ही। व्यापार की बात पूरी होते ही धार्मिक पुस्तक खुल जाती अथवा नोट बुक खुलती उनके लेखों का संग्रह प्रकाशित हुआ है उसका अधिक भाग तो नोट बुक से

ही लिया हुआ है। जो व्यक्ति लाखों के सौदे की बात करके तुरन्त आत्मज्ञान की गूढ़ बातें लिखने बैठ जाय वह व्यापारी नहीं किन्तु शुद्ध ज्ञानी है उनका इस प्रकार अनुभव मुझे एक बार नहीं किन्तु अनेकशः हुआ है। मैंने उन्हें कभी मूर्छित स्थिति में नहीं देखा। मेरे साथ उनका कोई स्वार्थ नहीं था, मैं उनके अति निकट संबंध में रहा हूं। मैं तो उस समय भिखारी बैरिस्टर था, किन्तु जब मैं उनकी दुकान में पहुंचता तब मेरे साथ धार्मिक बातों के सिवा अन्य नहीं करते। उस समय जबकि मैंने अपना दिशा निर्णय नहीं किया था, सामान्यतः मुझे धर्म की वार्ता में दिलचस्पी थी, ऐसा भी नहीं कह सकता फिर भी रायचन्द भाई की धर्म वार्ता का मैं रसिक था। अनेक धर्माचार्यों के प्रसंग में उसके वाद मैं आया हूं हरेक धर्म के आचार्यों से मिलने का मैंने प्रयत्न किया है, किन्तु मेरे पर जो छाप रायचन्द भाई ने पाड़ी वह कोई अन्य न डाल सका। उनके बहुत से वचन मुझे गहराई में उतर जाते। उनकी बुद्धि के विषय में मुझे गर्व था उतना ही उनकी प्रामाणिकता के विषय में भी था जिससे मैं जानता था कि वे मुझे कभी इरादा पूर्वक उलटे मार्ग नहीं चढ़ाएंगे और जो अपने मन में होगा वही कहेंगे। इससे मैं अपनी आध्यात्मिक दुविधा में उन्हीं का आश्रय लेता (गांधीजी की आत्मकथा खंड ? पृष्ठ १३९-४२)

इस प्रकार आश्रय लेने का प्रसंग धर्मशोधनार्थ उपस्थित हृदय मंथन के समय गांधीजी ने उनसे प्राप्त किया था। 'जिस प्रकार ईसाई मित्र मेरे पर असर डालना चाहते थे और मुसलमान मित्रों का भी प्रयत्न था।' मैंने अपनी मुसीबतें रायचंद भाई के सामने रखी और हिन्दुस्तान के अन्य धर्माचार्यों के साथ भी पत्र-व्यवहार किया, उनका उत्तर भी मिला। रायचन्द भाई के पत्र से मुझे कुछ शान्ति मिली। उन्होंने मुझे धैर्यपूर्वक हिन्दूधर्म का गहरा अभ्यास करने की सलाह दी। उनके एक वाक्य का भावार्थ यह था कि "हिन्दू धर्म में जो सूक्ष्म और गूढ विचार है, आत्मा का निरीक्षण है, दया है, वैसा अन्य धर्म में नहीं। ऐसा निष्पक्ष रूप से विचारते मुझे प्रतीति हुई है कवि (श्रीमद्‌जी) के साथ तो अन्त तक मेरा पत्र व्यवहार रहा। उन्होंने कितनी ही पुस्तकें भेजी जिन्हें भी मैंने पढ़ी। उनमें पंचीकरण, मणिरत्नमाला, योगवशिष्ट का 'मुमुक्षु प्रकरण, हरिभद्र सूरि का षट्‌दर्शन समुच्चय इत्यादि थे (आत्मकथा खंड १ पृ० २१४-२१५)।

इस विषय में विशेष स्पष्टता से प्रसंगवश अन्यत्र गांधीजी बतलाते हैं कि मुझे हिन्दू धर्म में शंका हुई तब उसके निवारणार्थ रायचन्द भाई सहायक थे। सन् १८९३ (सं० १९४९) में दक्षिण अफ्रीका में कितने ही ईसाई सज्जनों के खास संबंध में आया, उनका जीवन स्वच्छ था और वे धर्म में चुस्त थे।

अन्य धर्मवालों को ईसाई बनाने के लिए समझाने का उनका मुख्य व्यवसाय था। जो कि उनके साथ मेरा सम्बन्ध व्यावहारिक कार्य हेतु हुआ तो भी उन्होंने मेरे आत्म कल्याणार्थ चिंता करना शुरू किया। मेरा अपना एक कर्त्तव्य मैंने समझा कि जब तक हिन्दुधर्म का रहस्य मैं पूर्णतया न जान लूं और उससे मेरी आत्मा को असंतोष न हो वहाँ तक अपना जन्मजात धर्म नहीं त्याग करना चाहिए। इससे मैंने हिन्दू और दूसरे धर्म ग्रंथों को पढ़ना प्रारम्भ किया (ईसाई और मुस्लिम पुस्तकें पढ़ी। लंदन में बने अंग्रेज मित्रों के साथ पत्र व्यवहार किया। उनके समक्ष अपनी शंकाएं रखी, वैसे ही हिन्दुस्तान में मेरी जिन पर कुछ भी आस्था थी, उनके साथ पत्र व्यवहार प्रारम्भ किया। उनमें रायचंद भाई मुख्य थे। उनके साथ मेरा श्रेष्ठ संबंध जुड़ चुका था। उनके प्रति सम्मान था, जिससे उनके द्वारा जो मिल सके वह प्राप्त करने का विचार किया। उसका परिणाम यह आया कि मुझे शांति प्राप्त हुई। हिन्दू धर्म में मुझे जो चाहिए वह मिल सकता है, यह मन में विश्वास आ गया। इस स्थिति के लिए रायचंद भाई ने उत्तर दायित्व लिया। अतएव उनके प्रति एतदर्थ कितना सम्मान बढ़ा यह पाठक गण समझ सकेंगे (रायचन्द भाई के कितने ही संस्मरण जै०सा०सं९ ३,१, पृ० ५० तथा श्रीमद्रामचंद्र तृतीया वृत्ति की प्रस्तावना) XXX स्वस्त्री के प्रति भी ब्रह्मचर्य का पालन करना यह मुझे दक्षिण अफ्रीका में ही स्पष्ट समझ में आया X इतना स्मरण है कि इसमें रायचंद भाई के प्रभाव की प्राधान्यता थीं) इन दोनों प्रसंगों के लिए गाँधीजी की आत्मकथा खंड ? पृ० २१४ और ३१७) इसके उपरान्त शंकाओं के समाधान आदि के लिए श्रीमद्जी के द्वारा गांधीजी को लिखे पत्र दृष्ट हैं (श्रीमद् रायचंद्र पत्रांक ४४७,४१२,६४७)।

और भी अपने संस्मरणों में गांधीजी ने विशेषत: बतलाया है कि—'उनके लेखनों की एक असाधारणता यह है कि स्वयं जो अनुभव किया वही लिखा है, उनमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं है। दूसरों पर प्रभाव डालने के लिए एक पंक्ति जैसा भी लिखा हो ऐसा मैंने नहीं देखा। उनके पास हमेशा कुछ धार्मिक ग्रन्थ और एक मोटी कापी रहती ही थी। इस चौपड़ी में अपने मन में जो विचार आते वे लिख डालते कभी गद्य और कभी पद्य। इसी प्रकार अपूर्व अवसर भी लिखा गया होना चाहिए (इसकी निम्न प्रथम २ गाथाएं भी उन्होंने लिखी है।

"अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे, क्यारे थइशुं बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जो।
सर्व सम्बन्ध नु बन्धन तीक्ष्ण छेदी ने, विचरशुं कब महत्पुरुष ने पंथ जो ? ॥१॥
सर्वभाव थी औदासीन्य वृत्तिकरी, मात्र देह ने संयम हेतु होय जो।
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहिं, देहेपण किंचित मूर्छा नवि जोय जो ॥२॥

खाते, बैठते, सोते प्रत्येक क्रिया करते उनमें वैराग्य तो रहता ही। कभी भी उन्हें जगत के किसी भी वैभव के प्रति मोह हुआ हो, ऐसा मैंने नहीं देखा।

भाषा उनकी इतनी परिपूर्ण थी कि उन्हें अपने विचार प्रकट करने के लिये कभीभी शब्द खोजना पड़ा हो ऐसा मुझे याद नहीं। पत्र लिखने बैठते तो उन्हें मैंने शब्द बदलते शायद ही कभी देखा हो ! फिर भी पढ़ने वाले को ऐसा नहीं लगता कि विचार अपूर्ण है या वाक्य रचना खण्डित है या शब्द चयन में त्रुटि है। १ यह वर्णन संयमी के विषय में सम्भवित है। बाह्याडम्बर से मनुष्य वीतरागी नहीं हो सकता, वीतरागता तो आत्मा की प्रसादी है, अनेक जन्मों के प्रयत्न से मिल सकती है ऐसा हर व्यक्ति अनुभव कर सकता है।

नरसिंह मेहता की जो भाषा है, जिसमें नन्दशंकर ने अपना करण घेलो लिखा, जिसमें नवलराम, नर्मदाशंकर, मणिलाल, मलवारी आदि लेखक लिख गये हैं, जिस बोली में श्रीमद्‌राजचन्द्र कवि ने अमृतवाणी राग को त्याग करने के लिये कहावे जानते हैं कि राग रहित होना कितना कठिन है। इस राग रहित दशा कवि की स्वाभाविक थी। ऐसी मेरे पर उनकी छाप पड़ी थी। यों अपवाद होने पर भी व्यवहार कुशलता और धर्म परायणता का सुन्दर मेल जितना मैंने कवि (रायचन्द) के अन्दर देखा वैसा दूसरों में नहीं अनुभव किया।

अमुक सीमा के बाद शास्त्र सहायता नहीं करते, अनुभव ही की मदद करता है। इसलिए रायचन्द भाई ने गाया है :—

"जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञान मां, कही शक्या नहीं ते पद श्रीभगवंत जो।
एह परम पद प्राप्ति नु कर्युं ध्यान मैं, गजा वगर पेण हाल मनोरथ रूप जो॥"

अतः अन्त में तो आत्मा को मोक्ष देने वाली आत्मा ही है। इस शुद्ध सत्य का अपूर्व निरूपण रायचन्द भाई ने अनेक प्रकार से अपने लेखन में किया है। रायचन्द भाई ने बहुत से धार्मिक ग्रन्थों का सुन्दर अभ्यास किया था। उन्हें संस्कृत, मागधी भाषा समझने में जरा भी मुश्किल नहीं होती। वेदान्त का अभ्यास किया हुआ था भागवत और गीताजी का जैनग्रन्थ जितने भी उनके हाथ में आते पढ़ लेते। उन्हें ग्रहण करने की उनमें शक्ति अथाह थी। एक बार पढ़ लेना ही उस पुस्तक का रहस्य ज्ञात कर लेना उनके लिए प्रर्याप्त था। कुरान, झंद अवस्ता इत्यादि का पठन भी उन्होंने अनुवाद के माध्यम से कर लिया था।

---

१. गुजराती मातृभाषा द्वारा ही शिक्षा लेनी चाहिए इस विषय में महात्माजी ने द्वितीय गुजरात केलवणी परिषद में अध्यक्ष पद से निम्नोक्त शब्द कहे उनमें भी रायचन्दकवि की भाषा सम्बन्धी मित शब्द ध्यातव्य है :—।

उनका पक्षपात जैन दर्शन की ओर था। ऐसा वे मुझे कहते। उनकी मान्यता थी कि जिनागम में आत्मज्ञान की पराकाष्टा है। किन्तु रायचन्द भाई को अन्य धर्म के प्रति अनादर नहीं था। वेदान्ती को तो कवि (रायचन्द्र) वेदान्ती ही लगते। मेरे साथ चर्चा करते कभी भी उन्होंने ऐसा तो कहा ही नहीं कि मुझे मोक्ष प्राप्ति के लिए अमुक धर्म का अवलम्बन करना चाहिए। मेरा आचार विचारने का ही उन्होंने मुझे कहा। कौन से ग्रन्थ पढ़ना ? यह प्रश्न आने पर मेरी रुचि और मेरे बचपन के संस्कार विचार कर उन्होंने मुझे गीताजी पढ़ने में ही उत्तेजन दिया और अन्य ग्रन्थों में पंचीकरण, मणिरत्नमाला, योगवाशिष्ट का वैराग्य प्रकरण, काव्यदोहण प्रथम भाग और अपनी मोक्षमाला पढ़ने का सुझाव दिया था।

रायचन्द भाई बहुत बार कहते कि भिन्न भिन्न धर्म—ये तो बाड़ा बन्दी है जिसमें मनुष्य प्रविष्ट हो जाता है। जिसने मोक्ष प्राप्त करना—यही पुरुषार्थ माना है, उसे किसी धर्म का तिलक अपने कपाल पर लगाना आवश्यक नहीं।

"सूतर आवे त्यम तूं रहे, त्यम त्यम करि ने हरीने लहे"

यह जैसे अरवा का वैसे ही रायचन्दजी भाई का भी सूत्र था। धर्म के झगड़ों से उन्हें हमेशा कंराला आता, वे उसमें प्रायः नहीं पड़ते। सभी धर्मों की विशेषताएँ पूरी देख लेते और उस धर्म वाले के पास रखते। दक्षिण अफ्रीका के मेरे पत्र व्यवहार में भी मैंने उनसे यही वस्तु प्राप्त की थी।

(जै० सा० सं० खण्ड ३ अंक १ पृ० ५२ से ५५)

उन्होंने यह भावना व्यक्त की है, जिस भाषा को सेवा कर सकें ऐसी हिन्दू मुस्लिम और पारसी जातियां हैं। जिसे बोलने वाले पवित्र साधु हो गये हैं, जिसे व्यवहृत करने वाले धनाढ्य हैं, जिनमें विदेशों में व्यापार करने वाले जहाजी व्यापारी हो गये हैं। जिनमें मुलु माणेक व जेधा माणेक की वीरतापूर्ण गूंज आज भी बरडा पहाड़ों में सुनी जाती है उस भाषा के माध्यम से गुजराती लोग शिक्षा प्राप्त न करें तो वे अन्य क्या (देशोन्नति द्वारा मुख) उज्ज्वल करेंगे ? इस प्रश्न को विचारना पड़ता है यही खेद है। (वसंत कार्तिक १९७४ पृ० ५८७)।

किन्तु श्रीमद् राजचन्द्र असाधारण व्यक्ति थे। उनके लेखन उनके अनुभव के बिन्दु है। उन्हें पढ़ने वाले, विचार करने वाले और तदनुसार चलने वाले को मोक्ष सुलभ होता है। उसके कषाय मन्द हो जाते हैं। उसे संसार के प्रति उदासीनता आ जाती है वह देह का मोह त्याग कर आत्मार्थी बन जाता है। श्रीमद् के लेख अधिकारी के लिए है, सभी पाठक उसमें दिलचस्पी नहीं ले सकते टीकाकार को उसकी टीका का कारण मिलेगा। किन्तु श्रद्धावान् तो उससे आनन्द ही लूटेगा। उनके लेखनों में सत् तैरता रहता है, ऐसा मुझे सर्वदा आभास

मिलता है। उन्होंने अपना ज्ञान बतलाने के लिए एक अक्षर भी नहीं लिखा। लेखक का हेतु पाठक को अपने आत्मानन्द में हिस्सेदार बनाने का था जिसे आत्मक्लेश मिटाना है, जो अपना कर्तव्य ज्ञात करने को उत्सुक है उसे श्रीमद् के लेखों से बहुत मिलेगा, ऐसा मेरा विश्वास है, फिर वह चाहे हिन्दू हो या अन्य धर्मी।' (पृ० ४९)

महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका में थे तभी उन्होंने बतलाया था कि मैं उनके जीवन और वचनों का बारम्बार अभ्यास कर सकता हूं जिससे मुझे उनके समकालीन भारतीयों में वे सर्वोत्कृष्ट लगते हैं। धर्मबोध में मुझे वे टॉल्स्टॉय से भी बहुत ऊँचे ज्ञात होते हैं। ये श्रीमद् और टॉल्स्टॉय—दोनों के उपदेश और चर्या अविसंवादी है। १ गांधीजी के जीवन पर गहरा प्रभाव डालने वाले आधुनिक तीन व्यक्ति हैं। रायचन्द भाई ने जीवंत संसर्ग से टॉल्स्टॉय ने उनके "बैकुण्ठ तुम्हारे हृदय में है" नामक पुस्तक से और (उनके साथ हुए पत्र व्यवहार से) और रस्किन ने 'Un to this Last'—सर्वोदय नामक पुस्तक से मुझे चकित किया। (आत्मकथा खण्ड १ पृ० १४३) सं० १९७२ की अहमदाबाद की राजचन्द्र जयन्ती के प्रसंग में महात्माजी ने कहा था कि "मेरे जीवन पर श्रीमद् राजचन्द्र भाई का ऐसा स्थायी प्रभाव पड़ा है कि मैं उसे वर्णन नहीं कर सकता। उनके विषय में मेरे गहरे विचार हैं। मैं बहुत वर्षों से भारत में धार्मिक पुरुष की खोज में हूं, किन्तु मैंने ऐसा धार्मिक पुरुष भारत में अभी तक नहीं देखा कि जो श्रीमद् राजचन्द्र भाई के साथ प्रतिस्पर्धा में खड़ा रह सके। उनमें ज्ञान वैराग्य और भक्ति थी। ढोंग, पक्षपात या राग द्वेष नहीं था। उनके अन्दर एक बड़ी भारी शक्ति थी जिसके द्वारा वे प्राप्त हुए प्रसंग/अवसर का लाभ ले सकते थे। उनके लेख तत्वज्ञानियों की अपेक्षा में भी विलक्षण, भावनामय और आत्मदर्शी हैं। युरोप के तत्वज्ञानियों में मैं टॉल्स्टॉय को प्रथम श्रेणिका और रस्किन को द्वितीय श्रेणी का विद्वान समझता हूँ, किन्तु श्रीमद् राजचन्द्र भाई का अनुभव इन दोनों से भी अधिक बढ़ा चढ़ा है। इस महापुरुष के जीवन के लेखों को आप अवकाश में पढ़ोगे तो आप पर उसका बहुत प्रभाव पड़ेगा। वे प्रायः कहा करते कि मैं किसी वाड़े का नहीं और न किसी वाड़ाबड़ी में रहना चाहता। ये सब तो उपधर्म-

1. The more I consider his life and his writings, the more I consider him to have been the Best Indian of his times. Indeed, I put him must higher than Tolstoy in relegious perception, Both kavi and Tolstoy have lived as they have preached.

मर्यादित हैं और धर्म तो असीम है कि जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती। वे अपने जवाहिरात के व्यवसाय से विरत होते ही तुरन्त पुस्तक हाथ में लेते। यदि उनकी इच्छा होती तो उनमें ऐसी शक्ति थी कि वे एक अच्छे प्रतिभाशाली बैरिस्टर, जज या वाइसराय हो सकते। यह अतिशयोक्ति नहीं, किन्तु मेरे मन पर उनकी छाप है। उनकी विलक्षणता दूसरों पर अपना प्रभाव डालती थी। गांधीजी का अन्त में एक संक्षिप्त मिताक्षरी अंग्रेजी लेख अभी दांडी कूच के समय लिखा गया माडर्न रिव्यु जून १९३० में प्रकाशित हुआ है। (जिसका गुजराती भाषांतर देखें जैन युग आषाढ़ श्रावण १९८६ का अंक पृ० ५२५)।

दर्शनों के अभ्यासी श्री नर्मदाशंकर मेहता ने बतलाया है कि—श्रीमान् राजचन्द्र के सम्बन्ध में हमें स्पष्ट समझ में आता है कि वे इतर धर्म के प्रति मान दृष्टि वाले होते हुए भी निश्चयबल से चुस्त जैन थे × × धर्म सिद्धि में प्रकर्ष वैराग्य भावन प्राप्त होनी ही चाहिए और वैसे प्रकर्ष प्राप्त श्रीमद् राजचन्द्र में विलासपूर्ण झलकती थी। उनका समग्र जीवन किसी भी सांसारिक सुख या कीर्ति कामना युक्त नहीं थी जिससे वे श्रीमहावीर के जैन शासन का अपने सम्पर्क में आने वाले अधिकारी व्यक्तियों को सचोट प्रतिबोध दे सके थे। वैराग्य भावना के प्रकर्ष द्वारा उनकी विशाल बुद्धि, मध्यस्थता और सरलता जो तत्वोदय में आवश्यक गुण उन्होंने माने हैं वे अधिक दीप्तिमय हुए थे।

(अहमदाबाद, राजचन्द्र जयन्ती स० १९७२)

आचार्य आनन्दशंकर ध्रुव ने वेदान्ती रूप में कहा जाय जितना कहते हुए बतलाया कि "श्रीमद्राजचन्द्र का वेदान्त की ओर झुकाव था ऐसा उनके पत्रों को पढ़ते किसी किसी को लगता है किन्तु जैन धर्म की ओर उन्होंने अधिक महत्व दिया था। × × उन्होंने अपने धर्म में स्थिर रहकर अन्य धर्मों के सही तत्त्व शोध निकाले थे। अपना भव्य धर्म श्रीमद् राजचन्द्र जैसे समर्थ पुरुषों के प्रताप से आज भी टिका रहा है × × श्रीमद् राजचन्द्र का जीवन एक यथार्थ महात्मा का जीवन था × ×' श्रीमद् राजचन्द्र के ग्रंथ को एक आदर्श रूप में रखा जाय तो उसके उपासक को अत्यन्त लाभ हुए बिना नहीं रहेगा। इस ग्रन्थ में तत्वज्ञान का झरना प्रवाहित है, यह ग्रन्थ किसी धर्म का विरोधी नहीं, क्योंकि इसकी शैली गम्भीरतापूर्ण है। (बढ़वाण, राजचन्द्र जयन्ती में प्रमुख रूप से भाषण से)।

महात्मा गांधीजी पर श्रीमद् राजचन्द्र के समागम विचारों का जबरदस्त प्रभाव हुआ है तदुपरान्त उनकी गुजराती भाषा की शैली पर भी वे प्रभावित थे। आचार्य आनन्दशंकर के शब्दों में गांधीजी एक सादे पत्रकार हैं, किन्तु पत्रकार रूप में इन्होंने गुजराती भाषा में सीधी सादी और सचोट फिर भी तलपदी नहीं किन्तु आत्म संस्कार की ऐसी सादी सुशोभित है और ऐसी अनोखी अवर्णनीय शैली प्रयुक्त की है, जो विद्वान और अविद्वान सब को समानता से मुग्धकारी है। ऐसी गांधीजी की शैली से भी राजचन्द्र भाई की शैली अधिक प्रौढ़, संस्कारी, मित और सचोट अनुभव के अमृतमय है—अपूर्व शैली है।

(साहित्य महारथी, मुम्बई हाइकोर्ट के वकील श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई द्वारा लिखित और जैन साहित्य के संक्षिप्त इतिहास नामक ग्रन्थरत्न में बीसवीं शताब्दी के अद्वितीय महापुरुष, अतिशय ज्ञानी श्रीमद् राजचन्द्र के सम्बन्ध में लिखे लेख का हिन्दी अनुवाद)। ●

राजा-सम्प्रति
जैन धर्म की दिग्विजय
पहला परिच्छेद
पूर्वानुवृत्ति

घड़े भरकर सिर पर रखे अपनी सखियों से बातचीत करती हुई घर लौटती दिखाई देती थीं। शान्ति का साम्राज्य होने से नगर आनन्द में मस्त हो रहा था। नगर का तेजप्रताप, गौरव और रूप उसके सौन्दर्य को आकर्षक बना रहे थे और यह सब अवलोकन करते हुए वे अश्वारोही आगे बढ़ रहे थे। वह प्राकृतिक सौन्दर्य उनके चित्त को प्रसन्न कर रहा था।

"चाचाजी ! चलिये, वापस लौट चलें।" कुमार ने कहा।

"क्यों ? क्या स्नान करने का विचार नहीं है ?" प्रौढ़ पुरुष ने पूछा।

नहीं ! दिन बहुत चढ़ गया है, अतः अब हमें किले में पहुँच जाना चाहिए।"

"जैसी आपकी इच्छा।"

नगर के छोटे बड़े प्रत्येक व्यक्ति उन अश्वारोहियों को नमन करके विनय-पूर्वक मार्ग से हट जाते थे। सिपाही और अधिकारी वर्ग भी सैनिक ढंग से उन्हें सलाम करके उनकी प्रसन्नता-सम्पादन करने के लिए उत्सुक रहते थे। दोनों की वेशभूषा राजवंशी होते हुए भी उस समय घूमने वाले शिकारियों जैसी ही थी। नगर के मुख्य द्वार में प्रवेश कर वे साथ-साथ किले में चले गये।

वह प्रौढ़ पुरुष अवन्तिका का अधिकारी माधव सिंह था। इधर कुछ समय से उसकी गणना मगधेश्वर सम्राट् के प्रमुख सामन्तों में होती थी। नियमित रूप से सम्राट् अशोक की ओर से समय समय पर कारभारियों और अधिकारियों की बदली होती रहती थी।

वह बालकुमार मगधपति महाराज अशोक का पुत्र कुणाल था। उसे जन्म देते ही माता ने देह त्याग दिया था। इसी कारण राजकुमार कुणाल पर महाराज का विशेष स्नेह था वही राज्य का उत्तराधिकारी होने से बाल्यावस्था में ही महाराज ने उसे 'युवराज' पद प्रदान कर दिया था। उन दूरदर्शी मगधेश्वर ने विचार किया कि :—"मैं राज्य प्रबन्ध में लगा रहने से इस मातृविहीन कुमार की ठीक से देख-रेख न कर सकूँगा, और यही राज्य का उत्तराधिकारी होने से

सौतेली माताओं की आँखों में भी बुरी तरह चुभता होगा। वे कदाचित उचित अवसर की प्रतीक्षा में भी होगी कि मेरी असावधानी से लाभ उठाकर कुणाल का जीवन ही समाप्त कर दें। अतएव उन सौतेली माताओं से इसे दूर ही रखना उचित है। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर सम्राट् अशोक ने अपनी चतुरगिनी सेना सहित विश्वस्त प्रधानों के साथ कुणाल को उज्जयिनी भेज दिया था। अतएव देवताओं के समान क्रीड़ा करता हुआ युवराज कुणाल अवन्ति में रहकर सुखपूर्वक अपना काल निर्गमन कर रहा था। साथ ही सम्राट् स्वयं अपने हाथों से नियमित पत्र लिखकर उसके प्रति अपना स्नेह प्रदर्शित करते रहते थे। आज कितने ही वर्षों से कुणाल इस प्रकार अवन्तिका में समय व्यतीत कर रहा था। क्रमशः उसकी अवस्था आठ वर्ष की हो गई।

कुमार की पढ़ने योग्य अवस्था हो जाने से प्रधानों ने मगधेश्वर को उसका सब विवरण लिख भेजा; और साथ ही कुशलक्षेम के समाचार भी सूचित कर दिये।

दूसरा परिच्छेद

तिष्यरक्षिता

"महारानीजी! यदि आप अप्रसन्न न हों तो मैं कुछ निवेदन करूँ!" इस प्रकार एक दिन एकान्त में अवसर पाकर एक दासी ने अपनी स्वामिनी से कहा :—

"तू क्या कहना चाहती है?" उसने वेपर्वाही से उत्तर दिया।

"आप आज कितने ही दिनों में उदास दिखाई देती हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों आपके हृदय में कोई शल्य चुभ रहा है! आपके मनका भेद किसी को ज्ञात नहीं होता! ऐसी क्या बात है?" दासी ने कहा।

"तुझे उससे क्या प्रयोजन है? तुझ जैसी दासियों को बड़ों के काम में सिर देने की क्या आवश्यकता है?"

"केवल इसीलिए कि यदि आपका कोई कार्य हो तो उसे सेवा के द्वारा मैं अपना नमक अदा कर सकूँ। जो कुछ सहायता मुझसे हो सकती हो उसके लिए मैं प्रस्तुत हूं।

"तू मेरी सहायता करना चाहती है, किन्तु तेरा विश्वास क्या है, श्यामा?"

"विश्वास तो हम पर रखना ही चाहिए। आजतक आपकी सेवा करने पर भी आप हमारे हृदय को न परख सकीं; यह भी हमारा अभाग्य ही है!" कुछ अप्रसन्नता सी प्रकट करते हुए श्यामा ने उत्तर दिया।

"श्यामा ! श्यामा ! तू इतना भी नहीं समझती कि, वह वैरन्, छोकरे को छोड़कर क्या मर गई, मुझे सदैव के लिए मार गई ! गरीब बेचारा मेरा महेन्द्र !" रानी ने निःश्वास छोड़ते हुए अपने उद्‌गार प्रकट किये।

"मैंने भी यही अनुमान किया था कि उस सौतने मरते-मरते यह बदला चुकाया है। महारानीजी उस बिना माँ के लड़के पर महाराजा के चारों हाथ की छाया भी तो है।"

"परन्तु अब हम कर भी क्या सकते हैं ? महाराज ने तो उसे 'अवन्ती' भेज दिया है, नहीं तो अब तक कभी का उसे उसकी माँ के पास भेज दिया होता, और मेरे महेन्द्र का मार्ग निष्कण्टक हो जाता।"

और आपके इस शुभ कार्य में मैं भी सच्चे हृदय से आपकी सहायता करती; इस प्रकार उस काले कर्म करनेवाली श्यामा ने जलती हुई आग में घी डालकर उसे और अधिक भड़काया।

"फिर भी यदि मौका मिला तो, भले हो वह उज्जयिनी में भी क्यों न रहे ; मैं यहीं बैठी हुई जब उसे राज्यभ्रष्ट कर दूँगी, तभी मुझे चैन पड़ेगी।"

"आपका कथन सर्वथा सत्य है महारानीजी ! देखा न आपने; महाराज ने उसे बाल्यावस्था से ही युवराज का पद देकर राज्य का उत्तराधिकारी बना दिया है। क्या आप महाराज को समझा नहीं सकतीं ?"

"अरी ! मैं तो बात ही बात में कितने ही दिनों से महाराज को मोह पाश में फँसाकर अपना काम बना लेने का अवसर देख रही हूं। किन्तु महाराज समझें, तब तो ! वे और सब बातें सुनते हैं, किन्तु कुणाल को चर्चा होने पर ध्यान ही नहीं देते।"

"एकाधदिन अत्यधिक प्रेम-भाव बताकर उन्हें विवश करते हुए अपना काम बना लीजिये नँ ! प्रेम ही प्रेम में एकबार वे स्वीकार करलें; फिर तो सारी बाजी अपने हाथ में है ! अतः प्रयत्न छोड़ना उचित नहीं। आज महाराज आपका जितना सम्मान करते हैं; क्या उस दृष्टि से आपको राजमाता बनने की इच्छा नहीं होती ? यदि अभी से नहीं चेतोगी, तो उस सौत के बेटे द्वारा तिरस्कार-पूर्वक फेंके हुए टुकड़ों पर ही आपको पराधीन जीवन बिताना पड़ेगा ! और कुमार महेन्द्र की तो और भी न जाने क्या दशा होगी !"

"यह सब मैं भी समझती हूं, और इसीलिए सदैव जागृत-सावधान रहती हूँ। महेन्द्र को राज्य का उत्तराधिकारी बनाने के लिए मैं अनेक प्रकार के प्रयत्न में लगी हुई हूं। केवल अवसर-मौके की राह देख रही हूं।"

"प्रभु आपके इस शुभ कार्य में सहायक हों और आपकी मनोकामना पूर्ण हो।" "मैं रातदिन इसी प्रयत्न में हूँ कि किसी प्रकार महाराज को अपने चक्र में फँसाकर काम बना लूँ भला, महाराज भी कैसे हैं जो उसके पीछे पागल से हो रहे हैं। वह मुआ, इतनी दूर है, फिर भी उसके लिए कितनी चिन्ता रखते हैं। गरीब मेरा महेन्द्र ! उस कुणाल से आधा प्रेम भी कभी महाराज ने इस बेचारे के प्रति दिखलाया है ? क्या मैं मूर्ख हूँ जो कि यह सब नहीं समझती ? किन्तु समय आने पर देखना है।" इस प्रकार तिरस्कार-पूर्वक महारानी ने अपने उद्‌गार प्रकट किये। उस समय कुछ क्रोध एवं तिरस्कार से उसका शरीर काँप रहा था। उस गौर मुखमण्डल पर क्रोध की रक्तवर्णीय छाया व्याप्त हो रही थी और वह श्याममुखवाली श्यामा अपनी स्वामिनी को इस दुःख में दिलासा दे रही थी।

मगध की तत्कालीन सम्पूर्ण शोभा एवं सौन्दर्य के प्रतीक एवं महान् ऐश्वर्य-शाली पाटलीपुत्र-पटना के एक विशाल एवं स्वर्ग के विमान को भी लज्जित करने वाले इन्द्रभवन में इस समय ये दोनों स्त्रियाँ बैठी हुई बातें कर रही थीं। संसार की रूपवती रमणियों का मानमर्दन करने वाली एक महिला थी महाराज अशोक की प्रिय महारानी तिष्यरक्षिता। वह महाराजा की प्रिय एवं पुत्रवती होते हुए भी दुखी थी। विधि का विधान ही ऐसा कुछ विचित्र एवं विपरीत गतिवाला है कि जो समस्त सुखों में कुछ न कुछ बिघ्न-बाधा उपस्थित कर ही देता और इस प्रकार मनुष्य-जीवन के साथ उपहास करता रहता है। मगधराज अशोक की कई महारानियाँ थीं, किन्तु उनमें तिष्यरक्षिता मुख्य थी, अर्थात् महाराज पर अपने रूप, चातुर्य एवं हावभाव द्वारा जैसा प्रभाव वह डाल सकती थी, उतनी कुशलता अन्य रानियों में नहीं थी। इसीलिये वह महाराज को प्राणों से भी अधिक प्रिय थी। राज्यकार्य एवं शासन-प्रबन्ध में भी वे महारानी से परामर्श किया करते थे। उस प्रियतमा की प्रसन्नता के लिए महाराज क्या-क्या नहीं करते ? किन्तु फिर भी कुटिल महारानी को सन्तोष नहीं होता था। क्योंकि उसका लक्ष्य तो कुछ और ही था, और महाराजा की इतनी कृपापात्र होते हुए भी वह अब तक उस उद्देश्य को सिद्ध नहीं कर सकी थी, क्योंकि सभी बातों में उसकी इच्छानुसार चलनेवाले महाराज अशोक कुणाल के सम्बन्ध में वह जो कुछ कहती उसे चुपचाप सुन लेते थे, किन्तु कोई स्पष्ट उत्तर नहीं देते थे। एवं उसके शब्दों में स्वार्थमयी भावना देखकर ही उस मातृहीन बालक की प्राणरक्षा के विषय में सदैव सतर्क रहते थे।

इस प्रकार महाराज अशोक के राजकुमारों में कुणाल जिस प्रकार अवन्ती में पिता के प्रयत्न से आनन्दमय दिन व्यतीत कर रहा था; उसी प्रकार दूसरा

पुत्र महेन्द्र भी उसी का समवयस्क होते हुए तिष्यरक्षिता का पुत्र था। इनके सिवाय और भी पुत्र थे। उनकी संघमित्रा नामकी पुत्री भी थी। राजकुमार महेंद्र माता-पिताकी छत्रछाया में परिपोषित होकर बड़ा हो रहा था। वह माता पिता का लाड़ला बेटा उधम उपद्रव में भी अग्रसर ही था।

तिष्यरक्षिता का स्वभाव प्रारम्भ से ही उग्र था। वह राजकाज में भी हस्तक्षेप करके अपना मनमाना काम करा लेती थी। अतः आज उसके स्वभाव का पोषक एक महान कार्य उसके सामने उपस्थित हुआ। वर्षों से वह अपने हृदय से उस शल्य को बाहर नहीं निकाल सकी थी। कुणाल को उसकी माता के साथ परलोक को भेज देने के प्रयत्न में तिष्यरक्षिता ने कोई कसर नहीं रखी थी। किन्तु मनुष्य के प्रयत्न की अपेक्षा दैवेच्छा बलवान होने के कारण बाल-कुमार कुणाल तिष्यरक्षिता के चक्र से अकस्मात बच गया और सम्राट् अशोक भी सचेत होकर समझ गये कि यह मातृहीन बालक अपनी माता के अभाव में सौतेली माता के कुचक्र में प्राण खो बैठेगा। क्योंकि आज इसका सहायक कोई भी नहीं है और अर्थ-लोलुप दास-दासियों द्वारा कब यह षडयंत्र में फँसा लिया जायेगा; इसका कोई ठिकाना नहीं है। अत: अतएव उसे तुरन्त ही "युवराज" बनाकर अवन्तिका भेज दिया। उस समय महाराज को अपनी बातों में भुलाने का इस अधम नारी ने बड़ा प्रयत्न किया, किन्तु सब व्यर्थ सिद्ध हुआ। महाराज समझ गये थे कि यह स्वार्थान्ध स्त्री कब क्या कर डालेगी, इसका कोई ठिकाना नहीं। इसीलिए उसके कथन पर विशेष ध्यान न देकर उन्होंने अपने आप्त विश्वासी स्वजनों के साथ कुणाल को अवन्तिका भेज दिया था। इसी कारण अन्तर में क्रोध से फड़-फड़ाती हुई कुटिल तिष्यरक्षिता हाथ मलती रह गई। थोड़ी-सी भूल से वह बच गया; इसलिए उसके निर्दय हृदय में पछतावा होने लगा। किन्तु फिर भी वह हिम्मत न हार कर उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगी; जिससे कि मौका साधकर वह उस बढ़ते हुए काँटे को जड़-मूल से उखाड़-कर अपने महेंद्र के लिए इस विशाल राजमार्ग को परिष्कृत-साफ कर सके। इसीलिये जब-जब वह महेंद्र को देखती तब उसका जोश उभर पड़ता और वह मरी हुई सौत को मन-ही-मन बुरी तरह कोसने लगती।

इस परिवर्तन से उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया था। इसी चिन्ता के आवेश के कारण किसी भी कार्य में रानी का मन नहीं लगता था। सम्राट अशोक की महारानी होते हुए भी उसकी आशा-वासनाएँ उसे अधम मार्ग की ओर खींचकर नीच कार्य करने के लिए प्रेरित कर रही थीं। अनेक दास-दासी एवं अटूट वैभव होते हुए भी उसके हृदय में ज्वाला जल रही थी। उस अग्नि से उसका हृदय धधक रहा था। इतना ही नहीं, वरन् उस आग में बेचारे निरपराध

दास-दासी भी जले जा रहे थे। संसार का यह एक सामान्य नियम सा है कि बड़े कहलाने वाले, गरीबों का मूल्य नहीं समझ पाते। इसीलिए ऐसे कई जीवों का मूल्य बलिदान पाकर भी उसके हृदय में शान्ति नहीं थी।

अपना उद्देश्य पूर्ण करने के लिये वह अपने मन ही मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प करती रहती थी। बारंबार बालकुणाल उसे अपने सामने सूक्ष्म शरीर में खड़ा दिखाई देता, और उस समय वह उसका वध करने के लिये तलवार लेकर टूट पड़ती। किन्तु वह कोई सच्चा कुणाल तो था नहीं, जिसे कि वह मार सकती। साथ ही वह अपने उस अत्यन्त जोश की ज्वाला को महाराज के भय से छिपाने की भी कोशिश करती थी। क्योंकि वह महाराज को विश्वास में लेकर ही विश्वासघात द्वारा कार्यसाधने की आशा कर रही थी इसीलिए वह प्रयत्न करती थी कि, मेरी चेष्टाओं का कहीं महाराज को पता न लग जाय; अन्यथा यह एक अन्तिम शेष रही हुई इच्छा भी धूल में मिल जायगी। इसी उद्देश्य से वह अपने अन्तर का मर्म महाराज अथवा अन्य किसी के सामने प्रकट न होने देने के लिए पूरी सावधानी रखती थी। वह महाराज के साथ इस प्रकार वार्तालाप करती मानो, कुणाल से उसका कोई सम्बन्ध ही न हो। और इस रीति से वह महाराज के मन पर प्रभाव डालकर उनका विश्वास सम्पादन करने के लिये अनेक प्रकार के प्रयत्न कर रही थी। परन्तु अभी तो उस विषैली सर्पिणी को वह विष का घूंट हृदय में ही रखकर समय व्यतीत करने को विवश होना पड़ रहा था।

(क्रमशः)

सौजन्य से :

ARBEITS INDIA

Export House recognised by Govt. of India

Proprietor : **SANJIB BOTHRA**

8/1, MIDDLETON ROW,
5th Floor, Room No. 4
CALCUTTA-700 001

Phone : 201029/6256/4730
Telex : 021-2333 ARBI IN
Fax No. : 0091-33290174

पूर्णतल्लगच्छ का संक्षिप्त इतिहास

शिव प्रसाद

निर्ग्रन्थदर्शन के श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अन्तर्गत चन्द्रकुल से उद्भूत मध्यकालीन गच्छों में पूर्णतल्लगच्छ का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट होता है यह गच्छ राजस्थान प्रान्त के जोधपुर मण्डल में स्थित प्राचीन पूर्णतल्लक या पूर्णतल्ल, वर्तमान पुन्ताला, नामक स्थान से अस्तित्व में आया प्रतीत होता है।[1] इस गच्छ में आम्रदेवसूरि, श्रीदत्तसूरि, यशोभद्रसूरि, प्रद्युम्नसूरि, गुणसेनसूरी, देवचन्द्रसूरि, कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि प्रसिद्ध नाट्यशास्त्री रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि कई प्रसिद्ध और विद्वान् आचार्य हो चुके हैं।

जहां प्रायः सभी गच्छों से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थप्रशस्तियां, दो एक पट्टावलिया तथा पर्याप्त संख्या में अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध हैं जिनके आधार पर गच्छ विशेष के इतिहास की पुनर्रचना की जाती है वहीं इस गच्छ की न तो कोई पट्टावली मिलती है और न ही बड़ी संख्या में अभिलेखीय साक्ष्य ही मिलते हैं। इस गच्छ से सम्बद्ध कुछ ग्रन्थ प्रशस्तियां मिलती हैं, किन्तु वे भी सीमित संख्या में हैं, फिर भी उनसे इस गच्छ के उद्भव और विकास का कुछ हद तक स्पष्ट स्वरूप प्रकाश में आ जाता है इनका विवरण इस प्रकार है :

मूलशुद्धिप्रकरणसटीक :

पूर्णतल्लगच्छीय प्रद्युम्नसूरि की प्राकृत भाषा में रची गयी कृति **मूलशुद्धिप्रकरण** पर उनके प्रशिष्य देवचन्द्रसूरि ने वि० सं० ११४६ / ई० सन् १०९० में **वृत्ति** की, जिसकी प्रशस्ति[2] में उन्होंने अपनी गुरु परम्परा का विवरण दिया है। इसके अनुसार चन्द्रकुल के अन्तर्गत पूर्णतल्लगच्छ में आम्रदेवसूरि नामक आचार्य हुए। उनके शिष्य का नाम श्रीदत्तगणि था, जिनके शिष्य यशोभद्रसूरि हुए, जिन्होंने उर्ज्जयन्तगिरि पर सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग किया। उनके पट्टधर प्रद्युम्नसूरि हुए, जिन्होंने **मूलशुद्धिप्रकरण** अपरनाम **स्थानकप्रकरण** का निर्माण किया। उनके शिष्य गुणसेनसूरि थे, जिनके पट्टधर देवचन्द्रसूरि ने वि० सं० ११४६ / ई० सन् १०९० में **मूलशुद्धिप्रकरणवृत्ति** की रचना की। इस कार्य में उन्हें अपने कनिष्ठ गुरुभ्राता अभयदेवसूरि तथा अपने शिष्य अशोकचन्द्र से सहायता प्राप्त हुई।

आम्रदेवसूरि
|
श्रीदत्तगणि
|
यशोभद्रसूरि [उज्जयन्तगिरि पर समाधिमरण)
|
प्रद्युम्नसूरि [**मूलशुद्धिप्रकरण** अपरनाम **स्थानकप्रकरण** के रचनाकार]
|
गुणसेनसूरि
|
देवचन्द्रसूरि [वि० सं० ११४६ / ई० सन् १०९० में **मूलशुद्धिप्रकरणवृत्ति** के रचनाकार]
|
अशोकचन्द्र [**मूलशुद्धिप्रकरणवृत्ति** की रचना में अपने गुरु के सहायक]

अभयदेवसूरि [वृत्तिलेखन में सहायक]

शांतिनाथचरित :

आचार्य देवचन्द्रसूरि की दूसरी कृति है **शांतिनाथचरित** जो प्राकृत भाषा में वि० सं० ११६० / ई० सन् ११०४ में रची गयी है। इसकी प्रशस्ति [३] में उन्होंने अपनी संक्षिप्त गुरु-परम्परा दी है, जो इस प्रकार है :

यशोभद्रसूरि
|
प्रद्युम्नसूरि
|
गुणसेनसूरि
|
देवचन्द्रसूरि
[वि० सं० ११६०/ई० सन् ११०४ में खंभात में **शांतिनाथचरित** के रचनाकार]

महावीरचरित :

आचार्य देवचन्द्रसूरि के शिष्य कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि द्वारा रचित **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित** का १०वां पर्व **महावीरचरित्र** के रूप में है। इसकी प्रशस्ति [४] में उन्होंने भी संक्षिप्त रूप से अपनी गुरु-परम्परा इस प्रकार दी है :

यशोभद्र
|
प्रद्युम्न
|
गुणसेन
|
देवचन्द्र
|
हेमचन्द्र [**त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र** के रचनाकार]

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित का रचनाकाल वि० सं० १२१६-२८ के मध्य माना जाता है।

इसी सम्बन्ध में एक अन्य प्रशस्ति का भी उल्लेख किया जा सकता है, वह है, वि० सं० १२०७ / ई० सन् ११५१ में रची गयी **उत्पादसिद्धिप्रकरण** की प्रशस्ति५। यद्यपि इसमें पूर्णतल्लगच्छ का उल्लेख नहीं है, फिर भी इसके रचनाकार चन्द्रसेन ने अपने गुरु प्रद्युम्नसूरि को सिद्धहेमगुरु का गुरुभ्राता है, जो निश्चय ही कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि से अभिन्न हैं :

[देवचन्द्रसूरि]
|
प्रद्युम्नसूरि — हेमचन्द्रसूरि
|
चन्द्रसेन
[वि० सं० १२०७ / ई० सन् ११५१ में **उत्पादसिद्धिप्रकरणसटीक** के रचनाकार]

आचार्य हेमचन्द्रसूरि के करीब ८ शिष्यों का उल्लेख मिलता है, जिनके नाम हैं रामचन्द्रसूरि, गुणचन्द्रसूरि, बालचन्द्रसूरि, देवचन्द्र, सागरचन्द्र यशचन्द्र, महेन्द्रसूरि, उदयचन्द्रसूरि और वर्धमानगणि। किन्हीं उदयचन्द्रसूरि के शिष्य देवेन्द्रसूरि का भी उल्लेख मिलता है जिन्होंने हेमचन्द्राचार्यविरचित **सिद्धहेमशब्दानुशासनवृहद्वृत्ति** पर **कतिचित् दुर्गपदव्याख्या** की रचना को। कतिपय विद्वान् इस उदयचन्द्र को हेमचन्द्रसूरि का शिष्य मानते हैं।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है इस गच्छ का उल्लेख करनेवाला सबसे प्राचीन साक्ष्य है **मूलशुद्धिप्रकरणवृत्ति** की प्रशास्ति जो आचार्य देवचन्द्रसूरि द्वारा वि०सं० ११४६/ई० सन् १०९० में रची गयी है। इसमें टीकाकार ने अपने पूर्ववर्ती ५ पट्टधर आचार्यों का उल्लेख किया है। यदि इसमें से प्रत्येक आचार्य का नायकत्वकाल २५ वर्ष माना जाये तो देवचन्द्रसूरि से ५ पीढी पूर्व हुए आचार्य आम्रदेवसूरि का समय वि०सं० १०२५/ई० सन

९७५ के आस-पास माना जा सकता है। यह गच्छ कब अस्तित्व में आया, इसके प्रारम्भिक आचार्य कौन थे, यद्यपि इस बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिल पाती, फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ईस्वी सन् की १०वीं शती के अंतिम चरण में यह गच्छ अस्तित्व में था। देवचन्द्रसूरि के समय इस गच्छ को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इस समय उदयन जैसे उच्चशासनाधिकारी इस गच्छ के अनुयायी थे। आचार्य देवचन्द्रसूरि के शिष्य एवं पट्टधर हेमचन्द्राचार्य की असाधारण प्रतिभा से गुर्जरभूमि में एक नई स्फूर्ति उत्पन्न हुई, जिससे न केवल पूर्णतल्लगच्छ बल्कि समग्र श्वेताम्बर परम्परा अपनी लोकप्रियता की पराकाष्ठा पर पहुंच गयी। आचार्य हेमचन्द्र सदैव नई सूझ-बूझ से कार्य लेते थे और सभी पर अपनी तलस्पर्शी मेधा का एक चमत्कारिक प्रभाव छोड़ देते थे। संभवतः उनकी चेतना की इसी विलक्षणता ने ही महापराक्रमी गुर्जरेश्वर जयसिंहसिद्धराज को आकृष्ट किया था। सिद्धराज एक महान शासक और प्रजा के संरक्षक के रूप में सम्माननीय थे तो हेमचन्द्र धार्मिक, चारित्रिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। आचार्य हेमचन्द्र का कुमारपाल के साथ गुरु-शिष्य का सम्बन्ध था। उसकी राजनैतिक सफलता, सामाजिक नवसुधार की योजना आदि के पीछे आचार्य का व्यक्तित्व, उनकी प्रेरणा एवं उनका वरद्हस्त था।

आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य समूह भी उन्हीं के समान प्रतिभाशाली व्यक्तित्व सम्पन्न था। रामचन्द्र, गुणचन्द्र, बालचन्द्र, महेन्द्रसूरि, वर्धमान-गणि, देवचन्द्रसूरि आदि उनके सुविख्यात शिष्य थे। इन्होंने हेमचन्द्रसूरि की कृतियों पर टीकायें तथा वृत्तियां लिखी हैं: साथ ही उनके द्वारा लिखे गये स्वतंत्र ग्रन्थ भी मिलते हैं। रामचन्द्रसूरि इन सभी शिष्यों में अग्रगण्य थे। इनमें कवि की अलौकिक प्रतिभा और श्रमणतत्व का अलौकिक तेज था। इन्हें शतप्रबन्धकर्ता के रूप में जाना जाता है। इन्होंने अपने गुरुभ्राता गुणचन्द्र के साथ **नाट्यदर्पण** और **द्रव्यालंकार** की टीका के साथ रचना की। महेन्द्रसूरि ने अपने गुरु हेमचन्द्रसूरि की कृति **अनेककार्यसंग्रहकोश** पर अनेकार्थकैरवाकरकौ-मुदी की रचना तथा देवचन्द्रसूरि ने **चन्द्रलेखाविजयप्रकरण** नामक नाटक का प्रणयन किया।[९]

किन्ही शांत्याचार्य द्वारा रचित **न्यायावतारवार्तिकवृत्ति तिलकमंजरी-टिप्पण वृन्दावनकाव्यटिप्पण, घटस्वर्परकाव्यटिप्पण मेघाभ्युदयकाव्यटिप्पण, शिवभद्रकाव्यटिप्पण चन्द्रदूतकाव्यटिप्पण** आदि कई कृतियां मिलती हैं। **न्यायावतारवार्तिकवृत्ति** की प्रशस्ति[१०] में इन्होंने स्वयं को चन्द्रकुल के वधमानसूरि का शिष्य बतलाया है तथा **तिलकमंजरीटिप्पण** की प्रशस्ति[११] में अपने को पूर्ण-

तल्लगच्छीय कहा है। पं० दलसुख मालवणिया ने विभिन्न प्रमाणों के आधार पर इनका काल वि० सं० की ११वीं-१२वीं शती के मध्य निश्चित किया है। चूंकि इन्होंने अपने गुरु के अतिरिक्त अपने गच्छ के किन्हीं अन्य मुनि या आचार्य का उल्लेख नहीं किया है, अतः **मूलशुद्धिप्रकरणवृत्ति शान्तिनाथचरित महावीर-चरित्र, उत्पादसिद्धिप्रकरणसटीक** आदि की प्रशस्तियों में उल्लिखित पूर्णतल्ल-गच्छीय मुनिजनों के साथ इनका सम्बन्ध स्थापित कर पाना कठिन है, फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि पूर्णतल्लगच्छ की उक्त शाखा के अतिरिक्त एक और शाखा भी विद्यमान थी, जिसमें वर्धमानसूरि, शांतिसूरि आदि आचार्य हुए और यह वि० सं० की १२वीं शती में अस्तित्व में थी।

महात्मा तेजपाल द्वारा वि० सं० १२९८ / ई० सन् १२४२ में शत्रुंजय महातीर्थ पर एक पाषाणखण्ड पर उत्कीर्ण कराये गये शिलालेख[१२] में जहाँ विभिन्न गच्छों के आचार्यों का उल्लेख है, वहीं राजगुरु हेमसूरि की परम्परा में हुए किन्हीं मेरुप्रभसूरि का नाम मिलता है। राजगुरु हेमसूरि यदि कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि से अभिन्न माने जायें तो वि० सं० की १३वीं शती के अन्त तक इस गच्छ का अस्तित्व प्रमाणित होता है। उक्त सभी साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ की गुरु-शिष्य परम्परा की एक तालिका इस प्रकार निर्मित की जा सकती है :

स्व० नरेन्द्र सिंह जी बैद
की पुण्य स्मृति में

–मीरा बैद
८३-बी, विवेकानन्द रोड,
कलकत्ता-७००००६
फोन : २४१-०७१९

आम्रदेवसूरि

श्रीदत्तगणि

यशोभद्रसूरि [उज्जंयन्तगिरि पर समाधिमरण]

प्रद्युम्नसूरि 'प्रथम' [**मूलशुद्धिप्रकरण** अपरनाम **स्थानकप्रकरण** के रचनाकार]

गुणसेनसूरि

देवचन्द्रसूरि
[वि० सं० १४४६ / ई० सन् १०९० में **मूलशुद्धिप्रकरणवृत्ति** तथा
वि० सं० ११६० / ई० सन् ११०४ में **शांतिनाथचरित** के रचनाकार]

अभयदेवसूरि
[**मूलशुद्धिप्रकरणवृत्ति** के लेखन में
अपने गुरुभ्राता के सहायक]

(देवचन्द्रसूरि के शिष्य:)

अशोकचन्द्र
[**मूलशुद्धिप्रकरणवृत्ति** के लेखन में
अपने गुरु के सहायक]

हेमचन्द्रसूरि जयसिंह सिद्धराज एवं कुमारपाल
के समकालीन, अनेक ग्रन्थों के रचनाकार]

प्रद्युम्नसूरि [द्वितीय]

(हेमचन्द्रसूरि के शिष्य:)

रामचन्द्रसूरि
[अनेक कृतियों
के कर्ता]

बालचन्द्र

गुणचन्द्र

देवचन्द्र

यशचन्द्र
?
मुनिमेरुप्रभ
[वि० सं० १२९८ / ई० सन् १२४२ के एक शिलालेख में उल्लिखित]

उदयचन्द्र

सागरचन्द्र

महेन्द्रसूरि

वर्धमानगणि

(प्रद्युम्नसूरि [द्वितीय] के शिष्य:)

चन्द्रसेन
[वि०सं० १२०७
ई. सन् ११५१ में
उत्पादसिद्धिप्रकरणसटीक
के रचनाकार]

क्या रात्रि-भोजन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है ?

भोजन क्यों ?

जीवन के लिये हवा एवं पानी के बाद में भोजन सबसे आवश्यक तत्त्व है। भोजन से शरीर के विकास तथा संचालन हेतु आवश्यक ऊर्जा मिलती है। अत: यह आवश्यक है कि भोजन करते समय इन उद्देश्यों की पूर्ति का विशेष ख्याल रखा जाये। यदि इन बातों का ध्यान नहीं रखा गया तो जो भोजन स्वास्थ्य-वर्द्धक होना चाहिये, स्वास्थ्य-भक्षक बन जाता है। भोजन कैसा हो ? उसमें कौन-कौन से पौष्टिक तत्त्व कितनी-कितनी मात्रा में होने चाहिये ? क्या खाना चाहिये और क्या नहीं खाना चाहिये ? इन बातों के सम्बन्ध में चिकित्सक और आज का पढ़ा-लिखा मानव अवश्य ज्ञान रखता है और जन साधारण के लिये विपुल-साहित्य भी उपलब्ध है। फिर भले ही स्वाद के वशीभूत हो वह उन नियमों का पूर्ण पालन न भी कर सके। जितना जीवन के लिये भोजन आवश्यक है उससे भी अधिक उसका पाचन आवश्यक है। अत: हमें उन सब कारणों से बचना चाहिये जो भोजन का पाचन करने में बाधक है। प्रकृति में एक निश्चित नियमानुसार दिन-रात होते हैं। व्यक्ति की दिनचर्या और रात्रिचर्या का अलग-अलग विधान है। शरीर के अलग-अलग अंग और अवयव भी उसी के अनुसार अधिक सक्रिय और कम सक्रिय होते हैं। अत: भोजन कैसा किया जावे ? कितना किया जावे ? कहाँ किया जावे ? कब किया जावे आदि की जानकारी भी आवश्यक है ताकि जो भोजन हम करते हैं उसका अधिकाधिक लाभ मिल सके। इन तथ्यों की उपेक्षा से अच्छे से अच्छा पौष्टिक भोजन भी लाभ पहुँचाने के स्थान पर हानिकारक बन जाता है।

स्वास्थ्य के लिये विभिन्न नियमों का पालन आवश्यक है। किसी एक नियम की अवहेलना भी हमारे लिये अहितकारी हो सकती है। एक बून्द जहर मानों दूध को अपेय बना देता है। मरने के लिये सौ सांपों के काटने की आवश्यकता नहीं होती। एक सांप का काटा भी मर जाता है। छोटी सी आग की चिनगारी ढेर सारे घास को जलाने की क्षमता रखती है। आज चारों तरफ प्रदूषण और पर्यावरण के परिणाम स्वरूप हमारे लिये शुद्ध वायु, शुद्ध पानी भी उपलब्ध नहीं है। अत्यधिक रासायनिक खाद एवं कीटनाशक दवाओं के अन्धाधुन्ध उपयोग तथा कृत्रिम, मिलावटी, बनावटी और घर से बाहर खाने की बढ़ती प्रवृत्तियों के कारण शुद्ध खाद्य पदार्थ और भोजन की उपलब्धि भी दुर्लभ होती जा रही है। ऐसे वातावरण में व्यक्ति को अपने स्वास्थ्य के बारे में अधिक सजग और सतर्क होने की आवश्यकता है। जो कुछ उसके स्वयं से सम्बन्धित है, उन नियमों का पालन आवश्यक है। अन्यथा उसकी छोटी-छोटी भूलें उसकी सुख-शांति में दखल डाल सकती है और रोग ग्रस्त जीवन जीने के लिये बाध्य कर सकती है।

—**श्री चंचलमल चोरड़िया**

साभार : जिनवाणी,—दिसम्बर-'९६

WB/NC-330

Vol. XX No. 9 **TITTHAYARA** **January 1997**

Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77

श्री कैलाससागर सूरि ज्ञानमंदिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा
जि. गांधीनगर, पिन-382009